मैकॉले बनाम भारतीय ज्ञान–प्रणालियाँ और शिक्षा–व्यवस्था

अभय कुमार दुबे

इस अनुसन्धान में मैकॉले की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी की दावेदारियों की जाँच की गई है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों के माध्यम से दिखाया गया है कि जब भारत की क्षेत्रीय और क्लासिक भाषाओं को ज्ञानोत्पादन के लिए अक्षम बताया जा रहा था, उस समय उनके दायरों में किस तरह की शिक्षा-प्रणालियाँ चल रही थीं और वे ज्ञानोत्पादन की कौन-सी परम्पराओं से सम्पन्न थीं। मैकॉले का दावा किस हद तक सही था? क्या उपनिवेशवादियों द्वारा पूर्व के ज्ञान को गुणवत्ताविहीन बता कर ख़ारिज करने के लिए पश्चिमी ज्ञान-प्रणाली द्वारा प्रदत्त प्रविधियों और बौद्धिक संहिताओं का इस्तेमाल किया गया था? इसी के साथ यह लेख प्राच्यवादियों (ओरिएंटलिस्ट्स) द्वारा अपनाई गई 'क़लम लगाने की रणनीति', आंग्लवादियों (एंग्लिसिस्ट्स) द्वारा प्रतिपादित 'छनन सिद्धान्त' और वर्नाकुलरिस्ट्स द्वारा भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने के आग्रह की समीक्षा करते हुए दिखाता है कि किस तरह ये तीनों एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने की विभिन्न युक्तियाँ थीं, और यह लक्ष्य था भारत पर अँग्रेज़ी भाषा को थोपना।

इस अनुसन्धान का पहला भाग पत्रिका के चौथे अंक में प्रकाशित किया गया था। वर्तमान अंक में दूसरा भाग प्रकशित किया जा रहा है । तीसरा और अन्तिम भाग पाठशाला के आगामी यानी छठवें अंक में छापा जायेगा। सं.

मैकॉले के बाद : अँग्रेज़ी का 'न्यूनतम' वर्चस्व बरास्ते छनाई सिद्धान्त

मैकॉले का निष्कर्ष था कि भारतवासियों को उनकी भाषाओं में शिक्षा नहीं दी जा सकती। जीसीपीआई में उनके निकटतम सहयोगी रहे चार्ल्स ट्रेवेलियन ने तीन साल बाद (1838) में प्रकाशित अपनी पुस्तक *ऑन द एजुकेशन ऑफ़ द पीपुल ऑफ़ इंडिया* के पृष्ठों पर अपनी पत्नी के भाई द्वारा निकाले गए इस नतीजे को विस्तार से समझाया। ट्रेवेलियन ने दावा किया कि शिक्षा की हिन्दू-प्रणाली के तहत रचित इतिहास किसी भी तरह के प्रामाणिक आख्यानों से वंचित है और उनके स्थान पर पुराकथाओं से बजबजा रहा है। इस प्रणाली से निकले औषधि-विज्ञान का मतलब है नीमहक़ीमी। इसके भूगोलशास्त्र और खगोलशास्त्र में भीषण क़िस्म की बेहूदगियाँ भरी हुई हैं। इसका विधिशास्त्र ढीलीढाली अन्तर्विरोधी सूक्तियों से बना है। इसकी दण्ड संहिता बर्बर और हास्यास्पद प्रावधानों से भरी है। मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली के बारे में ट्रेवेलियन का कहना था कि वह हिन्दू-प्रणाली से काफ़ी बेहतर और छापेख़ाने से पहले के युरोप में प्रचलित प्रणाली जैसी तो है, लेकिन युरोप की मौजूदा ज्ञान-राशि के मुक़ाबले यह भी बहुत कमतर बैठती है।[40] ट्रेवेलियन की इस दावेदारी का संक्षिप्त रूप मैकॉले की टिप्पणी में भी व्यक्त किया गया था ('हमें मिथ्या इतिहास, मिथ्या खगोलविज्ञान, मिथ्या चिकित्साशास्त्र पढ़ाना है, क्योंकि यह एक मिथ्या धर्म का हिस्सा है')। उन्नीसवीं सदी

40. देखें, चार्ल्स ई ट्रेवेलियन (1938), *ऑन द एजुकेशन ऑफ़ द पीपुल ऑफ़ इंडिया*, प्रकाशक : लोंगमेन, ओर्म, ब्राउन, ग्रीन ऐंड लोंगमेन, लंदन : 83-85।

में उपनिवेशवादियों ने जब भी मैकॉले-बेंटिक की शिक्षा-पद्धति का औचित्य-निरूपण किया, घुमा-फिरा कर यही तर्क दिए गए।[41] भारतीय ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित ऊपर दिए गए विवरणों से ज़ाहिर है कि जिस समाज में अँग्रेज़ी के आने से ठीक पहले विभिन्न ज्ञानानुशासनों में उच्च-स्तर का और विपुल ज्ञानोत्पादन हो रहा हो, उसकी शिक्षा के बन्दोबस्त हज़ारों साल से अज्ञान, अन्धविश्वास और कर्मकाण्ड के अन्धकार में डूबे हुए नहीं हो सकते थे। कहना न होगा कि उपनिवेशवादियों द्वारा परम्परागत भारतीय शिक्षा-व्यवस्था पर लगाए गए इन आरोपों का विचारधारात्मक दुराग्रहों और सत्ता की ताक़त का सहारा लिए बिना किसी तरह से बचाव नहीं किया जा सकता था।

यह देखना दिलचस्प होगा कि जिस समय उपनिवेशवादी भारतीय शिक्षा-प्रणाली के बारे में इस तरह की निन्दात्मक चर्चा में लगे हुए थे, उनके पास ऐसी बातें करने की आधार-सामग्री क्या थी? दरअसल, 1835 में अपने शिक्षा सम्बन्धी निर्णय पर पहुँचने से पहले बेंटिक ने शिक्षा के तत्कालीन ढाँचे के बारे में जानकारी हासिल करने के लिए स्कॉटिश मिशनरी विलियम एडम[42] से बंगाल प्रेसीडेंसी में एक सर्वेक्षण करवाया था और उस सर्वेक्षण की पहली रपट उनके पास थी। बाद में एडम ने 1938 तक दो और रपटें पेश कीं *(स्टेट ऑफ़ एजुकेशन इन बंगाल : 1835-38)*। इससे पहले 1796 में फ़्रा पाओलिनो दा बोर्टोलोमियो द्वारा बच्चों की शिक्षा के बारे में जानकारी जमा की जा चुकी थी। 1820 में एलेक्ज़ेंडर वाकर ने भारतीय शिक्षा और साहित्य के बारे में एक रपट पेश की थी। 1822 से 1826 के बीच मद्रास प्रेसीडेंसी के गवर्नर थॉमस मुनरो[43] की पहलक़दमी पर इस क्षेत्र में पारम्परिक शिक्षा की संरचनाओं का असाधारण सर्वेक्षण करके बहुत-सी सूचनाएँ कम्पनी सरकार को दी जा चुकी थीं। बाद में आगे चल कर 1882 में जी डब्ल्यू लीटनर की रचना *हिस्ट्री ऑफ़ एजुकेशन इन पंजाब सिंस एनक्सेशन ऐंड इन 1882* का प्रकाशन हुआ।

युरोपियन सर्वेक्षकों और अधिकारियों द्वारा भारतीय शिक्षा के बारे में जमा की गई-करवाई गई यह जानकारी भारत में पढ़ाई-लिखाई की वैसी निराशाजनक तस्वीर पेश नहीं करती जैसी उपनिवेशवादी आमतौर पर पेश कर रहे थे। लेकिन, शिक्षा सम्बन्धी फ़ैसले करते समय ऐसी किसी रपट की प्रकटत: कोई परवाह नहीं की गई। इन रपटों को तैयार करने वाले व्यक्तियों का

41. मसलन, 1853 में एलेक्ज़ेंडर डफ़ ने बेंटिक के एजुकेशन एक्ट के पक्ष में बोलते हुए एकदम ऐसे ही विचार व्यक्त किए थे। बी के बोम्मन-बेहराम (1943), *एजुकेशनल कंट्रोवर्सीज़ इन इंडिया : द कल्चरल कांक्वेस्ट ऑफ़ इंडिया अंडर ब्रिटिश इम्पीरियलिज़्म,* डी.बी. तारापोरवाला संस ऐंड कं., बंबई में उद्धृत : 222।

42. विलियम एडम (1796-1881) बैप्टिस्ट मिशनरी के रूप में 1818 में भारत आए। 1830 में उन्हें गवर्नर-जनरल विलियम बेंटिक ने बंगाल और बिहार में शिक्षा-व्यवस्था का सर्वेक्षण करने का ज़िम्मा दिया। एडम संस्कृत और बांग्ला भाषा भी जानते थे। वे राममोहन रॉय के मित्र थे और उन्हीं के साथ मिल कर उन्होंने बैप्टिस्ट मिशनरी की हैसियत छोड़ कर यूनिटेरियन सेक्ट के लिए काम करने की शुरुआत की। बाद में एडम अमेरिका और कनाडा में भी यूनिटेरियन सेक्ट के प्रचार-प्रसार के लिए भी सक्रिय रहे। बैप्टिस्ट से यूनिटेरियन बनने के कारण ईसाई धर्मप्रचारवादी उनसे नाराज़ हो गए। एडम पत्रकार भी थे, और कलकत्ता के *इंडियन गज़ट* समेत कुछ अख़बारों का स्वामित्व उनके पास था। आंग्लवादियों और धर्मप्रचारवादियों द्वारा भारतवासियों के असभ्य और अशिक्षित बताए जाने के ख़िलाफ़ अपने अख़बार के कॉलमों में लिखने के कारण भी उनके कई सुझावों की तत्कालीन कम्पनी हुकूमत द्वारा उपेक्षा की गई।

43. थॉमस मुनरो (1761-1827) को माउंट स्टुअर्ट एलफ़िंस्टन के साथ उन शीर्ष ब्रिटिश अधिकारियों के मण्डल का सदस्य माना जाता है जिनके कार्यकाल को 'एम्पायर ऑफ़ ओपीनियन' की संज्ञा दी जाती है। समझा जाता है कि वारेन हेस्टिंग्ज़ के भारत से चले जाने के बावजूद उनकी प्रशासकीय विरासत को इसी 'एम्पायर ऑफ़ ओपीनियन' ने आगे बढ़ाया। मुनरो ने भारत में अपना अधिकतम समय दक्षिण भारत में कम्पनी राज की सेवा में बिताया। वहीं उन्होंने ब्रिगेडियर और मेजर जनरल की हैसियत से हैदर अली, टीपू सुल्तान और फिर पिण्डारियों के ख़िलाफ़ युद्ध में कम्पनी की सेनाओं का नेतृत्व किया। मद्रास के गवर्नर के रूप में उन्हें राजस्व जमा करने वाली रैयतवाड़ी प्रणाली के जनक के तौर पर भी जाना जाता है। जन-शिक्षा की मुनरो योजना शायद लंदन स्थित कम्पनी के डायरेक्टरों द्वारा इतनी आसानी से ख़ारिज न की जाती, अगर वे कुछ दिन और जीवित रहते। लेकिन ठीक उस समय जब लंदन में उनके पक्ष-पोषण के लिए उनकी सशरीर उपस्थिति आवश्यक थी, 1827 में उनका निधन हो गया।

निजी इरादा और रुझान जो भी रहा हो, तत्कालीन सत्तारूढ़ शक्तियाँ इन रपटों से असल में यह जानना चाहती थीं कि वे जिस प्रणाली को नष्ट करने की योजना पर काम कर रही हैं उसकी शक्ल-सूरत और आर्थिक आधार क्या है। इन रपटों को ख़ारिज करने के बावजूद उपनिवेशवादियों ने इनसे पहली बात तो यह सीखी कि भारत की पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली अपने आर्थिक पोषण के लिए बिना किसी राजकोषीय व्यवस्था के सामाजिक शक्तियों की विकेन्द्रित मदद से चलती रही है। वे इस निष्कर्ष पर भी पहुँचे कि अगर वे अपने शिक्षा-बजट से इस प्रणाली को पूरी तरह से वंचित कर देंगे, फिर भी यह किसी-न-किसी रूप में चलती रहेगी। उपनिवेशवादियों ने इससे दूसरी बात सम्भवत: यह सीखी कि समाज में विद्या के प्रसार का यह बन्दोबस्त अध्यापकों के एक ऐसे समुदाय पर टिका है जो सरकार पर निर्भर नहीं हैं, बल्कि उन्हें अपना आर्थिक पोषण समाज से ही मिलता है। ऐसे अध्यापक औपनिवेशिक सरकार के काम के नहीं हो सकते थे। अपने प्रभाव से स्वायत्त ऐसे अध्यापकों पर कम्पनी सरकार मनमाना पाठ्यक्रम चालू करने और शिक्षा के बुनियादी तत्त्व को बदलने के लिए निर्भर नहीं हो सकती थी।

थॉमस बैबिंग्टन मैकॉले
25 अक्तूबर 1800 - 28 दिसम्बर 1859

यही थी वह औपनिवेशिक समझ जिसके तहत बेंटिक के आदेश में शिक्षा पर राजकीय व्यय के सन्दर्भ में 'वर्नाकुलर' शब्द की अनुपस्थिति की व्याख्या पारम्परिक शिक्षा में राजकीय 'अहस्तक्षेप' की नीति के रूप में की गई।[44] इससे एक अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा-प्रणाली के ख़िलाफ़ किस तरह की बहुमुखी और जटिल पेशबन्दी की जा रही थी। इसका अन्तिम परिणाम अँग्रेज़ी प्रधान केन्द्रीकृत अभिजनोन्मुख शिक्षा-प्रणाली और उसके ज़रिए पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की आमूलचूल स्थापना में निकला। अँग्रेज़ों ने इसके लिए एक अत्यन्त संकुल प्रक्रिया अपनाई जो कई चरणों में धीरे-धीरे चली। इस दौरान उन्हें कई विरोधाभासों और अन्तर्विरोधों से गुज़रना पड़ा और अपने ही एकतरफ़ा लगने वाले निर्णयों की सन्तुलित व्याख्याएँ करनी पड़ीं। जटिल राजनीतिक-आर्थिक परिस्थितियों का सामना करने के बावजूद उन्होंने न केवल भारतवासियों को अँग्रेज़ी और पश्चिमी विद्या थमाने का लक्ष्य कभी आँखों से ओझल नहीं होने दिया, बल्कि इस प्रक्रिया को 'बलपूर्वक थोपने' की बजाय सभ्यतामूलक उद्धार, ज्ञान के प्रकाश और आधुनिकीकरण की भाषा में व्यक्त करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। आशिस नंदी ने भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद को 'जिगरी दुश्मन' की संज्ञा यूँ ही नहीं दी है।[45] भाषा-शिक्षा-ज्ञान के सांस्कृतिक-राजनीतिक क्षेत्र में चली यह

44. बेंटिक के आदेश पर देशी भाषाओं के ख़ात्मे की शुरुआत के आरोप का बचाव करते हुए यह तर्क एलेक्ज़ेन्डर डफ़ ने दिया था। उनका कहना था 'क्या प्रत्यक्ष सकारात्मक प्रोत्साहन को रोकने के आदेश ... को सम्पूर्ण उन्मूलन का अर्थ देने वाले प्रत्यक्ष और सक्रिय हतोत्साहन के रूप में समझा जाना चाहिए ?' यह उद्धरण जॉन डी विंडहॉज़ेन (1964), वही ने डफ़ की 1836 में प्रकाशित एक रचना से लिया है।

45. देखें, आशिस नंदी (2018), *जिगरी दुश्मन : उपनिवेशवाद के साये में आत्म-क्षय और आत्मोद्धार,* अनु. अभय कुमार दुबे, सामयिक विमर्श ग्रन्थमाला, वाणी-सीएसडीएस, नई दिल्ली।

त्रिकोणात्मक अन्योन्यक्रिया अपने-आप में एक ऐसी मिसाल है जिससे पता चल सकता है कि हमारा 'दुश्मन' हमारा 'जिगरी' कैसे बन गया। वस्तुत: भारत के सांस्कृतिक मर्म को भीतर से बदल डालने वाले इस औपनिवेशिक उद्यम में ऐसे कई किरदार और रुझान थे जो पहली नज़र में भारत का पक्ष लेकर उपनिवेशवादियों से संघर्ष करते नज़र आते थे। भारत के प्रति हमदर्दी से भरे और सौम्य लगने वाले इन चरित्रों और प्रवृत्तियों को इतिहासकारों और विश्लेषकों ने कुछ इस तरह पेश किया है जैसे वे अँग्रेज़ीपरस्त खलनायकी के बरक्स भारतीय भाषाओं में शिक्षा के तरफ़दार हों। लेकिन जैसे ही उन्हें उनकी वास्तविक श्रेणी के तहत रख कर देखा जाता है– उनकी तस्वीर साफ़ हो जाती है। उन्हीं प्राच्यवादियों की तरह जिनके बारे में ऊपर बताया जा चुका है कि आंग्लवादियों से लड़ने के बावजूद उपनिवेशवाद, अँग्रेज़ी-शिक्षा और पश्चिमी विद्या के कुछ भिन्न प्रकार के एजेंट थे।

> यहाँ विश्लेषण करने की ज़रूरत है कि क्या वर्नाकुलरिस्ट्स द्वारा प्रस्तावित देशी भाषाओं में शिक्षा पारम्परिक शिक्षा–प्रणाली का पर्याय थी, या वे पारम्परिक की जगह एक ऐसी शिक्षा–प्रणाली स्थापित करने के समर्थक थे जो भारत के लिए वि जातीय थी ? वे देशी भाषाओं में भारतीय विद्या सिखाना चाहते थे या पश्चिमी विद्या ?

प्रश्न यह है कि भाषा-शिक्षा-ज्ञान की तत्कालीन त्रिकोणात्मक संरचना की वास्तविक श्रेणियाँ कौन-कौन सी थीं? इसकी पहली श्रेणी थी देशी भाषाओं और पूर्व की क्लासिकल भाषाओं में शिक्षा देने वाली भारत की पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली जिसका विवरण नीचे दिया गया है। इसकी दूसरी श्रेणी थी भारतीय विद्या जिसका विवरण ऊपर दिया जा चुका है। इसकी तीसरी श्रेणी थी देशी भाषाओं में लेकिन अँग्रेज़ों द्वारा प्रस्तावित आधुनिक केन्द्रीकृत शिक्षा-प्रणाली के बन्दोबस्त के तहत शिक्षा देने की मुहिम। चौथी श्रेणी उस मतभेद की थी जो नई शिक्षा-प्रणाली की संरचना को लेकर आंग्लवादियों और वर्नाकुलरिस्ट्स के बीच था। इस मतभेद के केन्द्र में था आंग्लवादियों द्वारा प्रवर्तित छनन सिद्धान्त जिसकी सही समझ बनाए बिना अँग्रेज़ी प्रधान उपनिवेशवादी शिक्षा की परियोजना का वास्तविक अर्थ-ग्रहण मुश्किल है।

दरअसल, इन श्रेणियों में जैसे ही घालमेल किया जाता है, वैसे ही 'दुश्मन' का चेहरा 'जिगरी' बनता हुआ लगने लगता है। मसलन, पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली के हमदर्द विवरण देने वाले कोई और नहीं बल्कि उपनिवेशवादी महाप्रभुओं द्वारा नियुक्त वे पादरी और सरकारी अफ़सर थे जिन्हें इतिहास में वर्नाकुलरिस्ट्स कहा गया है। जब वे देशी भाषाओं में शिक्षा देने के लिए सरकारी धन ख़र्च करने का दबाव डालने की मुहिम चलाते दिखते हैं तो उनकी वह आन्दोलनकारी छवि इस तरह पेश की जाती है जैसे वे उपनिवेशवाद की ज़रूरतों के विपरीत भारतीय समाज की ज़रूरतों की साहसपूर्ण पैरोकारी कर रहे हों। यहाँ विश्लेषण करने की ज़रूरत है कि क्या वर्नाकुलरिस्ट्स द्वारा प्रस्तावित देशी भाषाओं में शिक्षा पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली का पर्याय थी, या वे पारम्परिक की जगह एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली स्थापित करने के समर्थक थे जो भारत के लिए विजातीय थी? वे देशी भाषाओं में भारतीय विद्या सिखाना चाहते थे या पश्चिमी विद्या? क्या ये वर्नाकुलरिस्ट्स भारतीय विद्या का रिश्ता देशी भाषाओं से काट देने की रणनीति पर नहीं चल रहे थे? दूसरी तरफ़, क्या सरकारी कोष की एक-एक पाई अँग्रेज़ी शिक्षा पर ख़र्च करने के आग्रही देशी भाषाओं में शिक्षा को पूरी तरह से नष्ट कर देना चाहते थे? या उनकी नीति कुछ और थी, और देशी भाषाओं में शिक्षा को भी अँग्रेज़ी और पश्चिमी विद्या के मातहत लाने का उद्यम कर रहे थे? यहाँ एक-एक करके चारों श्रेणियों की चर्चा की गई है, और फिर विश्लेषण किया गया है कि किसने क्या कहा और

दरअसल वह एक भली-सी और कल्याणकारी-सी लगने वाली बात की आड़ में किसके लिए ज़मीन साफ़ कर रहा था।

पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली

जैसा कि हमें पता है– उपनिवेशवादी प्रयोगों का मुख्य थिएटर बंगाल था। परमेश आचार्य ने अँग्रेज़ों के आने से पहले बंगाल में मुग़ल काल से प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का एक अनुसन्धानपरक तथ्यगत ब्योरा पेश किया है।[46] संक्षेप में उनके निष्कर्ष इस प्रकार हैं : पाठशालाओं और मक़तबों में साधारण हिन्दू और मुसलमान शिक्षा प्राप्त करते थे। टोल (संस्कृत शिक्षा) और मदरसे (फ़ारसी शिक्षा) धार्मिक और अन्य अभिजन के लिए थे। इनके लिए कोष का इन्तज़ाम राजाओं, नवाबों और अन्य धनपतियों द्वारा दी जाने वाले भू-अनुदानों और अन्य दान व धर्मादों द्वारा होता था। शिक्षा संस्थाओं का यह नेटवर्क पूरी तरह विकेन्द्रीकृत था। किसी भी तरह की केन्द्रीकृत बाह्य नियंत्रणकारी प्राधिकार की इसमें कोई भूमिका नहीं थी। इस शिक्षा-व्यवस्था के तहत किसी समरूप परीक्षा-प्रणाली का चलन नहीं था। देशी भाषाओं के ज़्यादातर स्कूलों में केवल एक अध्यापक होता था। छात्रों द्वारा दिए जाने वाले 'सीधे' और गाँववालों द्वारा समय-समय पर दिए जाने वाले दान से अध्यापक की आजीविका चलती थी। अध्यापकगण कुछ स्थापित मानकों का पालन करते थे जिनमें स्थानीयता के मुताबिक़ बहुत कम तब्दीलियाँ होती थीं। लिखना सिखाने के लिए ज़मीन, ताड़ के पत्ते, काग़ज़ आदि का प्रयोग किया जाता था। बौद्ध प्रभाव के कारण हिन्दुओं की पाठशाला प्रणाली का कुछ लोकतंत्रीकरण और सेकुलरीकरण भी हुआ था। बंगाल के हिन्दू स्कूलों में मुसलमान शिक्षकों और छात्रों की मौजूदगी इसके प्रमाण के तौर पर देखी जा सकती है। मुसलमानों की मक़तब प्रणाली के स्कूलों का रुझान ज़्यादातर इस्लाम केन्द्रित था।

> फ़्रायकेनबर्ग की दक्षिण भारत सम्बन्धी विशेषज्ञता की मदद भी ली जा सकती है। फ़्रायकेनबर्ग ने 1784 से 1854 के बीच दक्षिण भारत में शिक्षा के नज़ारे पर उल्लेखनीय अनुसन्धान किया है। विलियम एडम के अनुसार 1830 के दशक में बंगाल और बिहार के ग्रामों में एक लाख स्कूल (पाठशाला, गुरुकुल, मदरसा और संस्कृत की शिक्षा देने वाले टोल को मिला कर) थे।

पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली के अन्य पहलुओं की जानकारी प्राप्त करने के लिए धर्मपाल के बौद्धिक उद्यम की मदद भी ली जा सकती है। धर्मपाल ने अपनी रचना द ब्यूटीफ़ुल ट्री : इंडीजीनियस इंडियन एजुकेशन इन द एटींथ सेंचुरी में युरोपियन अधिकारियों और अन्य प्रेक्षकों की ऊपर बताई गई महत्त्वपूर्ण रपटें संकलित की हैं।[47] धर्मपाल के साथ-साथ यहाँ रॉबर्ट फ़्रायकेनबर्ग की दक्षिण भारत सम्बन्धी विशेषज्ञता की मदद भी ली जा सकती है। फ़्रायकेनबर्ग ने 1784 से 1854 के बीच दक्षिण भारत में शिक्षा के नज़ारे पर उल्लेखनीय अनुसन्धान किया है।[48] विलियम एडम के अनुसार 1830 के दशक में बंगाल और बिहार के ग्रामों में एक लाख स्कूल (पाठशाला, गुरुकुल, मदरसा और संस्कृत की शिक्षा देने वाले टोल को मिला कर) थे। मद्रास प्रेसीडेंसी में शिक्षा की स्थिति का ब्योरा देते हुए

46. देखें, परमेश आचार्य (1978), 'इंडीजीनियस वर्नाकुलर एजुकेशन इन प्रि-ब्रिटिश एरा : ट्रेडिशंस ऐंड प्रॉब्लम्ज़', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 13, अंक 48 : 1981+1983-1988।

47. देखें, धर्मपाल (2000), *द ब्यूटीफ़ुल ट्री : इंडीजीनियस इंडियन एजुकेशन इन द एटींथ सेंचुरी,* (कलेक्टिड राइटिंग्ज़ ऑफ़ धर्मपाल-खण्ड 3), अदर इंडिया प्रेस, गोवा।

48. रॉबर्ट एरिक फ़्रायकेनबर्ग (1986), 'मॉडर्न एजुकेशन इन साउथ इंडिया, 1784-1854 : इट्स रूट्स ऐंड इट्स रोल एज़ अ व्हीकल ऑफ़ इंट्रीगेशन अंडर कम्पनी राज', *द अमेरिकन हिस्टोरिकल रिव्यू,* खण्ड 91, अंक 1 : 37-65।

थॉमस मुनरो का कहना था कि वहाँ हर एक गाँव में स्कूल था। 1820 के आसपास जी एल प्रैंडरजैस्ट जैसे वरिष्ठ अधिकारी ने जानकारी दी कि बंबई प्रेसीडेंसी में ऐसा कोई गाँव नहीं था जहाँ स्कूल न हो, और बड़े आकार के गाँवों में एक से ज़्यादा स्कूल थे। डॉ जी डब्ल्यू लीटनर के अनुसार पंजाब में 1850 के आसपास शिक्षा का प्रसार इसी तरह का था।

ध्यान रखने की बात है कि ये ब्योरे उस दौर के हैं जब भारतीय अर्थव्यवस्था उपनिवेशवाद के दुष्प्रभावों के कारण क्षत-विक्षत हालत में पड़ी हुई थी। भारतीय शिक्षा के बारे में ये सूचनाएँ देने वाले ये लोग ग्रेट ब्रिटेन की अठारहवीं सदी के आख़िरी और उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दौर के समाज के सदस्य थे। यह सब देखते और लिखते समय उन्हें यह भी पता था कि तत्कालीन ब्रिटेन में शिक्षा की स्थिति क्या थी। उस ज़माने में साधारण लोगों के लिए इंग्लैंड में कुछ ही स्कूल उपलब्ध थे। न केवल यह, पहले से चले आ रहे ग्रामर स्कूलों की हालत ख़स्ता थी। एक तरफ़ भारत के हर गाँव में स्कूल होने का तथ्य था, और दूसरी तरफ़ इंग्लैंड में आम लोगों की शिक्षा की अफ़सोसनाक स्थिति थी। इसलिए इन भारत सम्बन्धी तथ्यों की सच्चाई स्वीकार करना उपनिवेशवादियों के लिए बहुत मुश्किल था। इसीलिए उन्होंने इन तथ्यों को 'एक लाख स्कूलों की दन्तकथा' करार दे कर ठुकरा दिया।

इन भारतीय स्कूलों में शिक्षा का स्तर क्या था? भारत में सदियों से चली आ रही इस प्रणाली के तहत दी जाने वाली शिक्षा की विषयवस्तु न केवल इंग्लैंड के मुक़ाबले बेहतर थी, बल्कि उसके छात्रों की स्कूली शिक्षा की अवधि ज़्यादा लम्बी होती थी। अध्यापन की विधि भी कहीं बेहतर थी। 1822-1825 के बीच मद्रास में स्कूलों में छात्रों की उपस्थिति 1800 के इंग्लैंड के सभी तरह के स्कूलों के मुक़ाबले आनुपातिक रूप से काफ़ी अधिक थी। भारतीय स्कूल इंग्लैंड के स्कूलों की भाँति गन्दे-सन्दे न हो कर साफ़-सुथरे होते थे। भारतीय शिक्षक इंग्लैंड के अध्यापकों के मुक़ाबले अधिक समर्पित और सौम्य थे। इसके मुक़ाबले अगर इंग्लैंड के स्कूलों की दशा पर नज़र डाली जाए तो धार्मिक शिक्षा को छोड़ कर 1835 के आसपास एक छात्र औसतन एक साल ही पढ़ता था, और 1850 तक आते-आते यह अवधि दो साल हो पाई थी। ए ई डॉब्स के अनुसार इंग्लैंड के कुछ ग्रामीण स्कूलों में तो लिखना सिखाया ही नहीं जाता था, क्योंकि माना जाता था कि लेखन सिखाने से दुष्टता पैदा होती है।

भारतीय स्कूलों की सबसे बड़ी कमी थी उनमें छात्राओं की कम संख्या होना। स्त्री –शिक्षा के सन्दर्भ में इंग्लैंड के स्कूलों को उनसे बेहतर कहा जा सकता था। लेकिन, इन स्कूलों की एक अन्य प्रचलित आलोचना तथ्यों की कसौटी पर खरी नहीं उतरती कि इनमें दी गई शिक्षा पर हिन्दुओं के सन्दर्भ में द्विज जातियों की और मुसलमानों के सन्दर्भ में शासक अभिजन की इजारेदारी थी।

भारतीय स्कूलों की सबसे बड़ी कमी थी उनमें छात्राओं की कम संख्या होना। स्त्री-शिक्षा के सन्दर्भ में इंग्लैंड के स्कूलों को उनसे बेहतर कहा जा सकता था। लेकिन, इन स्कूलों की एक अन्य प्रचलित आलोचना तथ्यों की कसौटी पर खरी नहीं उतरती कि इनमें दी गई शिक्षा पर हिन्दुओं के सन्दर्भ में द्विज जातियों की और मुसलमानों के सन्दर्भ में शासक अभिजन की इजारेदारी थी। तथ्यों के अनुसार मद्रास प्रेसीडेंसी के तमिलभाषी इलाक़ों में और बिहार के दो ज़िलों के स्कूलों में शूद्रों और उनसे भी कमतर समझी जाने वाली जातियों के छात्र अधिक संख्या में पाए गए। उन दिनों मद्रास प्रेसीडेंसी में तमिलभाषियों के अलावा ओडिया, कन्नड़, मलयालम और तेलुगु बोलने वाले इलाक़े भी आते थे। थॉमस मुनरो का सर्वेक्षण बताता है कि तेलुगु-क्षेत्र को छोड़ कर बाक़ी सभी भाषा-क्षेत्रों के स्कूलों में द्विज छात्रों की संख्या शूद्र और अन्य निचली समझी

जाने वाली जाति के छात्रों के मुक़ाबले काफ़ी कम थी। ब्राह्मणों के उच्चतर सामाजिक दर्जे के बावजूद मुनरो का सर्वेक्षण एक उल्लेखनीय जानकारी देता है कि तमिल स्कूलों में ब्राह्मणों के बजाय वेल्लालर जाति (शूद्र) के अध्यापकों की संख्या अधिक थी। इन स्कूलों में पुराने ग़ैर-ब्राह्मण साहित्यिक और अभिलेखीय ब्योरे और सामग्री को सहेज कर रखा गया था। यह प्रवृत्ति इन स्कूलों को एक नई सृजनशीलता से सम्पन्न करती हुई दिखती थी। फ़्रायकेनबर्ग के मुताबिक़ इससे सन्देश मिलता था कि तमिल समाज में ख़ासतौर से और आमतौर से दक्षिण भारतीय समाज में साक्षरता और शिक्षा पर ब्राह्मणों की इजारेदारी नहीं थी। इसका सबूत इस आँकड़े से भी मिलता है कि ग्रामीण स्कूलों में ब्राह्मण छात्रों की संख्या औसतन 34.5 प्रतिशत से अधिक नहीं थी (इस प्रतिशत में बहुत थोड़ी संख्या वैश्य छात्रों की भी शामिल है)। इसी सन्दर्भ में एडम रपट ने एक जगह बर्दवान में अछूत समझी जाने वाली जातियों की शिक्षा-प्रणाली में मौजूदगी के आँकड़े दिए हैं और उनकी ईसाई मिशनों द्वारा चलाए जाने वाले स्कूलों से तुलना की है। इन तथ्यों के अनुसार बर्दवान के 13 मिशनरी स्कूलों में डोम और चंडाल जाति के केवल चार छात्र थे। इन स्कूलों में 16 सबसे निचली जातियों के 86 छात्रों के पढ़ने की जानकारी भी इस रपट से मिलती है। इसके विपरीत, एडम के ही अनुसार भारतीय स्कूलों में इन्हीं जातियों के 674 छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे थे।[49]

> ब्राह्मणों के उच्चतर सामाजिक दर्जे के बावजूद मुनरो का सर्वेक्षण एक उल्लेखनीय जानकारी देता है कि तमिल स्कूलों में ब्राह्मणों के बजाय वेल्लालर जाति (शूद्र) के अध्यापकों की संख्या अधिक थी। इन स्कूलों में पुराने ग़ैर-ब्राह्मण साहित्यिक और अभिलेखीय ब्योरे और सामग्री को सहेज कर रखा गया था।

भारतीय शिक्षा-प्रणाली में उच्च-शिक्षा का घटक किस प्रकार का था? मद्रास प्रेसीडेंसी में हुए सर्वेक्षणों से निकल कर आता है कि विभिन्न ज़िलों (राजमुंदरी, कोयम्बटूर, गुंटूर, तंजौर, नेल्लोर, उत्तर आरकोट, सलेम और चिंगलपुट, मसलीपट्टम, बेल्लारी, मालाबार और त्रिचुनापल्ली) में 1,094 उच्च-शिक्षा की संस्थाएँ चल रही थीं। रपट में इन्हें कॉलेज शीर्षक के तहत रखा गया है।

इस संस्थाओं में वेदों, शास्त्रों, विधि, खगोलशास्त्र, गणितशास्त्र और नीतिशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। धर्म, तत्त्वमीमांसा और नीति की शिक्षा लेने वाले अधिकतर छात्र ब्राह्मण जाति के होते थे, और आयुर्विज्ञान व खगोलशास्त्र की शिक्षा पाने वाले छात्र विभिन्न पृष्ठभूमियों से आते थे। मालाबार के आँकड़े इसकी मिसाल के तौर पर देखे जा सकते हैं। खगोलशास्त्र पढ़ने वाले 808 छात्रों में केवल 78 ब्राह्मण थे। औषधविज्ञान पढ़ने वाले 194 छात्रों में केवल 31 ही ब्राह्मण थे। राजमुंदरी में औषधि और शल्यक्रिया सीखने वाले पाँच छात्र शूद्र जातियों से थे। स्कूलों में पढ़ाने वाले अध्यापकों की सामाजिक पृष्ठभूमि क्या थी? इनमें ज़्यादा संख्या ब्राह्मण, कायस्थ, सद्गोप और अगुरी जाति के शिक्षकों की थी। लेकिन अन्य तीस जाति-समूहों के अध्यापकों की संख्या भी कम नहीं थी। यहाँ तक कि एडम द्वारा किए गए बंगाल और बिहार के सर्वेक्षण में चंडाल जाति के छह अध्यापक भी पाए गए। उम्र के लिहाज़ से अध्यापकों की आयु तीस के पेटे में थी।

49. एडम ने स्पष्ट किया है कि स्कूलों में ग़ैर-ब्राह्मण उपस्थिति का मतलब यह नहीं था कि वहाँ जातिगत ऊँचनीच की संहिताएँ लागू नहीं थीं। ब्राह्मणों और ग़ैर-ब्राह्मणों (स्वच्छ जातियाँ) को अलग-अलग कमरों में बैठाया जाता था। इन छात्रों को अध्ययन के लिए दिए गए विषयों और अध्ययन-सामग्री के सम्बन्ध में यह अन्तर क़ायम रखा जाता था। *रामायण* और *महाभारत* जैसे महाकाव्यों के अंशों को तो सभी तरह के छात्र याद करते थे, पर दस्तकार जातियों के छात्रों को उनकी अपनी धार्मिक-सामाजिक परम्परा से निकली पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं। लिंगम धारण करने वाले छात्र (लिंगायत समाज) उन शास्त्रों का अध्ययन करते थे जो उनके समुदाय के लिए पवित्र माने जाते थे।

इन अध्यापकों, छात्रों और पाठ्यचर्या के बीच क्या सम्बन्ध था? इस प्रश्न का उत्तर हमें विख्यात शिक्षाशास्त्री कृष्ण कुमार ने अपनी रचना *पॉलिटिकल एजेंडा ऑफ़ एजुकेशन* में दिया है :

देशज प्रणाली में पाठ्यचर्या को आकार देना, स्थापित परम्पराएँ और शिक्षक का अपना फ़ैसला, दोनों द्वारा निर्देशित होता था। ग्राम शिक्षक शिक्षणशास्त्र में मौजूद विश्वास और व्यवहार की परम्पराओं तथा ग्रामीण अर्थतंत्र की ज़रूरतों द्वारा निर्देशित होता था। इस प्रकार कुछ ख़ास साहित्यिक पुस्तकों को शिक्षण-योग्य, या पढ़ाई शुरू कर चुके छात्र द्वारा उन पर अधिकार स्थापित करने योग्य पाया जाता था। पाठों के चयन के मामले में सभी शिक्षकों के पास व्यक्तिगत रूप से अपना फ़ैसला और अपनी रुचि को लागू करने के मामले में काफ़ी गुंजाइश रहा करती थी। सुलेख, व्याकरण और भाषा के साथ छात्रों के परिचय के पर्याप्त प्रौढ़ता हासिल कर लेने के बाद उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे इन पाठों को ख़ुद से पढ़ लेने में सक्षम हो जाएँगे।

> कृष्ण कुमार ने ललित कलाओं, ख़ास कर संगीत और नृत्य के मामले में शिक्षक की इस स्वायत्तता और छात्र की प्रगति का आकलन करने की विधि और क्षमता के बारे में कहा है कि इस क्षेत्र में तो गुरु उस समय तक इन्तज़ार करने के लिए स्वतंत्र होता था जब तक छात्र की प्रगति उसके सोच के हिसाब होती दिखाई नहीं देती थी।

अंक-ज्ञान के सम्बन्ध में पूर्व-औपनिवेशिक ग्रामीण विद्यालयों की पाठ्यचर्या पर भूमि और सम्पत्ति सम्बन्धी दस्तावेज़ों को तैयार करने और उनकी जाँच कर सकने की क्षमता का महत्त्व निश्चय ही काफ़ी ज़्यादा असर रखता था। यहाँ भी शिक्षण सम्बन्धी परम्पराओं, मसलन गुणन सारणियों (पहाड़ा) केवल पूर्णांकों की ही नहीं बल्कि भिन्नों की सारणियों को भी गा-गा कर याद करने के तरीक़े ने उस ठोस आकार को निर्धारित किया था जिसे पाठ्यचर्या ग्रहण करती चली गई थी। शिक्षक व्यक्तिगत रूप से जहाँ अपनी स्वायत्तता अमल में लाता था, वह थी छात्र की प्रगति के अपने आकलन के अनुसार ही शिक्षण प्रक्रिया की गति को निर्धारित करना। यही वह दूसरी विशिष्टता है जिसके मामले में देशज परम्परा औपनिवेशिक प्रणाली की तुलना में सर्वथा भिन्न थी।[50]

कृष्ण कुमार ने ललित कलाओं, ख़ासकर संगीत और नृत्य के मामले में शिक्षक की इस स्वायत्तता और छात्र की प्रगति का आकलन करने की विधि और क्षमता के बारे में कहा है कि इस क्षेत्र में तो गुरु उस समय तक इन्तज़ार करने के लिए स्वतंत्र होता था जब तक छात्र की प्रगति उसकी सोच के हिसाब होती दिखाई नहीं देती थी।

इस शिक्षा-प्रणाली का आर्थिक आधार क्या था? पहली बात तो यह है कि यह एक निहायत ही किफ़ायती शिक्षा-प्रणाली थी। बेल्लारी के कलक्टर ए डी कैम्पबेल ने 17 अगस्त, 1823 को भेजी गई अपनी रपट 'ऑन द स्टेट ऑफ़ एजुकेशन' में लिखा था:

भारतीय स्कूलों में जिस किफ़ायती तरीक़े से बच्चों को लिखना सिखाया जाता था, जिस विधि से अधिक शिक्षित छात्र कम शिक्षित छात्रों को पढ़ाते थे, और पढ़ाने के साथ अपने ही प्राप्त ज्ञान को पुष्ट भी करते चलते थे— निश्चित रूप से प्रशंसनीय था। इस सन्दर्भ में हिन्दुओं की सादगी से युरोपियन भी लाभकारी सबक हासिल कर सकते हैं। हर गाँव में पाए जाने वाले विशाल बरगद के साए तले एक भरीपूरी और सुविधाजनक आबोहवा में ग्रामीण

50. देखें, कृष्ण कुमार (2006), *ग़ुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद*, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली : 77-78 (*पॉलिटिकल एजेंडा ऑफ़ एजुकेशन : अ स्टडी ऑफ़ कोलोनियलिस्ट ऐंड नैशनलिस्ट आइडियाज़* (1991/2005), सेज, नई दिल्ली का हिन्दी अनुवाद)।

स्कूल का एक समुचित और सुन्दर दृश्य देखा जा सकता है।[51]

दरअसल, इस शिक्षा-प्रणाली का संचालन ब्रिटिश-पूर्व राज्य-व्यवस्था के तहत किए गए अत्यन्त नफ़ीस क़िस्म के राजकोषीय बन्दोबस्त पर टिका था। इसके ज़रिए राजस्व का एक आवश्यक हिस्सा शिक्षा के लिए निर्धारित कर दिया जाता था। यह प्रक्रिया तरह-तरह की राजनीतिक उथल-पुथल के बावजूद भी लम्बे अरसे तक जारी रही। कैम्पबेल द्वारा पेश की गई रपट बताती है कि अँग्रेज़ों में राजस्व जमा करने की बेपनाह भूख थी। इसके चलते राजस्व-वसूली के विकेन्द्रीकृत ढाँचे का ज़बरदस्त केन्द्रीकरण किया गया। कैम्पबेल ने निष्कर्ष निकाला कि ब्रिटिश औद्योगिक माल थोपे जाने के मुक़ाबले भारतीय औद्योगिक माल बनना और बिकना बहुत कम हो गया। इसका नतीजा मैन्युफ़ेक्चरिंग में लगे भारतीय उद्यमी आर्थिक रूप से बहुत कमज़ोर हो गए। भारतीय शिक्षा-प्रणाली के नष्ट होने के पीछे मुख्य कारण पूरे भारत का क्रमश: दरिद्रीकरण था। ब्रिटिश राज्य भारतीय शिक्षा के किसी भी प्रयास को आर्थिक मदद देने के लिए तैयार नहीं था। कैम्पबेल ने अपने ज़िले के हालात के बारे में लिखा कि वहाँ की 533 शिक्षा संस्थाओं को सरकार एक पैसा देने के लिए तैयार नहीं है। जबकि इससे पहले 'हिन्दू राज' में इस तरह की संस्थाओं को धन और ज़मीन की शक्ल में बड़े-बड़े अनुदान आवश्यकता के अनुसार मिलते रहते थे।[52]

> छनन सिद्धान्त का दावा था कि शिक्षा और ज्ञान का बहाव ऊपर से नीचे की तरफ़ ही होता है। इस पर व्यंग्य करते हुए एडम ने अपनी रपट में लिखा था : 'इस उसूल के मुताबिक़ कि ज्ञान में ऊपर से नीचे जाने की प्रवृत्ति होती है और वह नीचे से ऊपर नहीं जाता, हमें पहले ज़िला स्कूल बनाने होंगे, फिर परगना स्कूल और फिर ग्रामीण स्कूल।

कृष्ण कुमार के मुताबिक़ उपनिवेशवादी हस्तक्षेप की प्रकृति ही कुछ ऐसी थी कि उसके तहत देशी शिक्षा-प्रणाली को अपनी आर्थिक स्वायत्तता से वंचित होना ही था। वे लिखते हैं :

औपनिवेशिक राज्य द्वारा थोड़ा-बहुत शैक्षिक प्रावधान शुरू किए जाने के साथ ही देसी ग्रामीण विद्यालयों ने अपना आर्थिक आधार खो दिया। देसी परम्परा में शिक्षक का ख़र्चा वह समुदाय ही उठाता था जिसकी सेवा शिक्षक द्वारा की जाती थी। नई व्यवस्था में वह औपनिवेशिक सरकार का वेतनभोगी सेवक बन गया। शिक्षक का स्थानीय आबादी के नियंत्रण से निकल कर सरकार के नियंत्रण में चले जाना स्कूलों के स्थानीय समुदाय के कटते चले जाने की प्रक्रिया की शुरुआत करने वाला हुआ। एक बार जब स्कूल चलाने में राज्य का हित जड़ पकड़ गया तो स्थानीय तौर पर उपलब्ध वित्तीय समर्थन का सोता सूखने लगा और इसके चलते राज्य को स्कूली शिक्षा के सभी पहलू अपने हाथ में लेने की इजाज़त भी मिल गई।[53]

वर्नाकुलरिस्ट्स और उनकी पैरोकारी

कम्पनी सरकार ने ऐसे किसी भी सुझाव को स्वीकार नहीं किया जो भारत की पहले से चली आ रही शिक्षा-प्रणाली को बेहतर बनाने के लिए उसपर सरकारी कोष से धन ख़र्च करने के बारे में था। ये सुझाव उन लोगों द्वारा दिए गए थे जिन्हें इतिहासकारों ने वर्नाकुलरिस्ट्स

51. कैम्पबेल मद्रास स्थित फ़ोर्ट सेंट जार्ज के बोर्ड ऑफ़ कॉलेज के वरिष्ठ सदस्य भी थे। उनकी रपट 'ऑन द स्टेट ऑफ़ एजुकेशन ऑफ़ द नेटिव्ज़ ऑफ साउथ इंडिया' के लिए देखें, *मद्रास जरनल ऑफ़ लिटरेचर ऐंड साइंस*, अक्तूबर, 1934। इस रपट के उद्धरण धर्मपाल ने भी दिए हैं और फ़ायकेनबर्ग ने भी।

52. कैम्पबेल की रपट के उद्धरणों के लिए देखें, धर्मपाल (2000), *द ब्यूटीफ़ुल ट्री* : 79-82.

53. देखें, कृष्ण कुमार (2006), वही : 50।

की संज्ञा दी है। यह समूह मिली-जुली पृष्ठभूमि के ऐसे लोगों से बना था जो आपस में परिचित होते हुए भी अलग-अलग मुक़ामों पर सक्रिय थे। इनमें विलियम एडम, विलियम कैम्पबेल और ब्रायन होजसन जैसे मिशनरी थे जिन्होंने इस धारणा से शुरुआत की थी कि बाइबिल का प्रचार-प्रसार देशी भाषाओं में करना ही आसान और श्रेयस्कर होगा। इनमें थॉमस मुनरो और लैंसलोट विल्किन्सन जैसे प्रमुख सरकारी अधिकारी थे जो दक्षिण और मध्य भारत के कम्पनी प्रशासन में शीर्ष हैसियत रखते थे। इनमें एक अरसे से भारत में रह रहे फ़्रेडिक शोर जैसे कुछ ब्रिटिश पत्रकार और लेखक भी थे जिनकी उपनिवेशवादी हल्कों में पूछ थी।

इन अफ़सरों और पत्रकारों को लगता था कि भारत में उपनिवेशवाद का सच्चा हितसाधन भारतीय भाषाओं में शिक्षा के ज़रिए ही हो सकता है। साथ ही राम कमल सेन और राधाकांत देब जैसी कुछ भारतीय हस्तियाँ भी शामिल थीं जिन्होंने प्राच्यवादियों की सोहबत में रह कर 'कलम लगाने की रणनीति' पर आस्था विकसित कर ली थी। देशी भाषाओं के इन समर्थकों के प्रयास औपचारिक रूप से न सही, कहीं-न-कहीं एक-दूसरे से जुड़ते भी थे। मसलन, एडम की रपट में होजसन के सुझावों और प्रयासों की भूरि-भूरि प्रशंसा मिलती है।

बेंटिक के आदेश पर बंगाल और बिहार में शिक्षा का सर्वेक्षण करने वाले विलियम एडम के विचार वर्नाकुलरिस्ट्स पहलक़दमी के सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।[54] उन्होंने आंग्लवादियों द्वारा प्रस्तावित फ़िल्ट्रेशन थियरी को जम कर आड़े हाथों लिया था। छनन सिद्धान्त का दावा था कि शिक्षा और ज्ञान का बहाव ऊपर से नीचे की तरफ़ ही होता है। इसपर व्यंग्य करते हुए एडम ने अपनी रपट में लिखा था : 'इस उसूल के मुताबिक़ कि ज्ञान में ऊपर से नीचे जाने की प्रवृत्ति होती है और वह नीचे से ऊपर नहीं जाता, हमें पहले ज़िला स्कूल बनाने होंगे, फिर परगना स्कूल और फिर ग्रामीण स्कूल। इसका मतलब तो यह हुआ कि हमें तब तक ज़िला स्कूल नहीं क़ायम करने चाहिए जब तक प्रान्तीय कॉलेज न क़ायम हो जाएँ, और उन्हें तब तक नहीं क़ायम करना चाहिए जब तक विश्वविद्यालय न स्थापित कर दिए जाएँ, और सार्वदेशिक संस्थाओं के क़ायम होने तक विश्वविद्यालय भी नहीं स्थापित किए जाने चाहिए।'[55] अपनी तीसरी रपट (28 अप्रैल, 1938) के दूसरे अध्याय में एडम ने भारतीय भाषाओं में दी जाने वाली शिक्षा और उसकी समग्र प्रणाली को सुधारने और मज़बूत करने की एक 'सर्वाधिक आसान, सुरक्षित, किफ़ायती, लोकप्रिय और प्रभावी' योजना प्रस्तुत की। बेंटिक ने जब नई शिक्षा-नीति का आदेश पारित किया, तो उसके ठीक दो महीने पहले एडम की यह स्कीम उनके हाथ में थी।

> एडम के अलावा लैंसलोट विल्किन्सन, ब्रायन होजसन और थॉमस मुनरो ने सरकार को भारतीय भाषाओं में शिक्षा के पक्ष में विस्तृत और एडम से अलग तरह की राय दी थी। वे चाहते थे कि अँग्रेज़ी के बजाय पश्चिमी विचार और ज्ञान-विज्ञान की तालीम भारतीय भाषाओं और संस्कृत के ज़रिए दी जाए।

इसमें स्पष्ट राय दी गई थी कि केवल भारतीय भाषाओं में शिक्षा दे कर ही राष्ट्रीय शिक्षा की उचित और हितकारी प्रणाली की स्थापना की जा सकती है और भारतवासियों

54. देखें, विलियम एडम की रपट (1868), *एडम्ज़ रिपोर्ट ऑन वर्नाकुलर एजुकेशन इन बंगाल ऐंड बिहार*, सब्मिटेड टू गवर्नमेंट इन 1835, 1836 ऐंड 1838, होम सेक्रेटेरियट प्रेस, कलकत्ता : 258-318।

55. विलियम एडम की रपट (1868), वही : 258।

को बौद्धिक और नैतिक सुधार की प्रक्रिया से गुज़ारा जा सकता है। अपनी योजना को एडम ने एक तरह के पायलट प्रोजेक्ट की तरह कल्पित करते हुए सुझाव दिया था कि पहले इसे प्रायोगिक रूप से एक-दो ज़िलों में लागू करके देखा जाए। एडम चाहते थे कि उन ज़िलों की आबादी का एक सर्वेक्षण करके पहले यह सुनिश्चित किया जाए कि वहाँ बच्चों, वयस्कों और घरेलू शिक्षा की स्थिति क्या है। फिर स्कूल स्तर की चार किताबें तैयार की जाएँ– पहली किताब के ज़रिए दस्तावेज़-लेखन, पत्र-लेखन, कोश-कला और चाणक्य नीति से सम्बन्धित शिक्षा दी जाए। दूसरी किताब कला, विज्ञान, विनिर्माण, वाणिज्य, मशीनरी, कृषि की शिक्षा के लिए हो। तीसरी पुस्तक नैतिक और क़ानूनी सम्बन्धों, बैंकिंग, बचत और दण्ड संहिता के विषयों को सिखाए। चौथी पुस्तक स्थानीय और सामान्य इतिहास, ज्योतिष और भूगोल की शिक्षा दे। हर ज़िले में एक स्थानीय एजेंट और परीक्षक की नियुक्ति हो जो पुस्तकों के वितरण, समय-समय पर परीक्षा लेने और पुरस्कार आदि देने का बन्दोबस्त करे। पाँच ज़िलों के प्रत्येक सम्भाग पर एक इंस्पेक्टर नियुक्त हो जो परीक्षकों के कामकाज की देखरेख करे। ग्रामीण स्कूलों की एसोसिएशनें गठित की जाएँ जिनके पास गाँव के स्कूलों के निरीक्षण और नियंत्रण के अधिकार हों। ज़िला स्कूलों के भारतीय भाषा विभागों को ज़िला नॉर्मल स्कूलों में बदल दिया जाए।

एडम का अनुमान था कि उनके प्रयोग में अधिक धन ख़र्च नहीं होगा और एक ज़िले पर साल में कुल 9,975 रुपए (831 रुपये प्रति माह) ख़र्च होंगे। पाँच ज़िलों पर सभी की तनख़्वाह आदि मिला कर हर साल 49,860 रुपए (4,155 रुपए प्रति माह) का व्यय ही होगा। एडम का कहना था कि इस रकम से ज़्यादा तो कई युरोपीय कर्मचारी सालाना वेतन प्राप्त करते हैं। अगर यह योजना लागू की जाती तो एक ज़िले में एक साल में एक किताब के आधार पर 1,350 छात्रों को शिक्षित किया जा सकता था, और तब एक छात्र की शिक्षा पर केवल दस आना प्रति महीने का ही ख़र्च आता। 1838 में ही एडम की योजना जीसीपीआई के सामने रखी गई। कमेटी ने कहा कि बीस ग्रामीण स्कूलों में यह प्रयोग करके देखा जा सकता है, बशर्ते उसपर प्रति माह ख़र्च होने वाली 600 से 720 रुपए की रकम उस राशि में से नहीं दी जाएगी जिसे अँग्रेज़ी-शिक्षा पर ख़र्च किया जाना है। लेकिन, यह छोटी-सी रियायत भी मैकॉले नामक दीवार से टकरा गई जो उस समय भी कमेटी के अध्यक्ष थे। उन्होंने एडम के सुझाव के मुताबिक़ चार नई किताबें तैयार करने का सुझाव ठुकरा दिया और उनकी योजना को 'कुछ ज़्यादा ही महँगा' बताया। कुल मिला कर 1938-1939 की सालाना रपट में जीसीपीआई ने एडम की योजना को अव्यावहारिक कह कर ठण्डे बस्ते में डाल दिया।

> एडम के अलावा लैंसलोट विल्किन्सन, ब्रायन होजसन और थॉमस मुनरो ने सरकार को भारतीय भाषाओं में शिक्षा के पक्ष में विस्तृत और एडम से अलग तरह की राय दी थी। वे चाहते थे कि अँग्रेज़ी के बजाय पश्चिमी विचार और ज्ञान-विज्ञान की तालीम भारतीय भाषाओं और संस्कृत के ज़रिए दी जाए।

एडम के अलावा लैंसलोट विल्किन्सन, ब्रायन होजसन और थॉमस मुनरो ने सरकार को भारतीय भाषाओं में शिक्षा के पक्ष में विस्तृत और एडम से अलग तरह की राय दी थी। वे चाहते थे कि अँग्रेज़ी के बजाय पश्चिमी विचार और ज्ञान-विज्ञान की तालीम भारतीय भाषाओं और संस्कृत के ज़रिए दी जाए। भोपाल में सहायक रेज़ीडेंट के पद पर कार्यरत और प्राच्यवादी रुझानों से सम्पन्न विल्किन्सन उज्जैन के पास सीहोर में स्थानीय पण्डितों के साथ मिल कर पारम्परिक ज्ञान के पश्चिमी ज्ञान से

संयोग के प्रयोगों में लगे थे। विल्किन्सन को एक इतिहासकार ने नव-प्राच्यवादी भी करार दिया है।[56] वर्नाकुलरिस्ट्स में एक ऐसा रुझान भी था जो ओरिएंटलिस्ट्स द्वारा क्लासिक पूर्वी भाषाओं (संस्कृत-अरबी-फ़ारसी) पर ज़ोर दिए जाने की कड़ी आलोचना में व्यक्त होता था। इनमें होजसन की भूमिका प्रमुख थी। उनका तर्क था भारत इन पूर्वी भाषाओं में संचित 'मृत' ज्ञान और उसके प्रति 'मिथ्या' गर्व से भरा हुआ है। उनके लिहाज़ से क्लासिक पूर्वी भाषाओं का ओरिएंटलिज़्म भी एक तरह की फ़िल्ट्रेशन थियरी पर आधारित है, जबकि ज़रूरत इस बात की है कि शिक्षा का साधारण जन से सीधा संवाद हो। होजसन श्रीरामपुर के विख्यात मिशनरी विलियम कैरी के शिष्य थे। कैरी और सिरामपुर के मिशनरियों द्वारा चलाए गए स्कूलों में बांग्ला भाषा में शिक्षा पर ज़ोर दिया जाता था। कैरी के देहान्त के बाद होजसन ने उनकी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए आंग्लवादी शिक्षा-कार्यक्रम को पहली बार 'मैकॉलेवाद' की संज्ञा दी, और क्लासिकल भाषाओं के बजाय क्षेत्रीय भाषाओं में शिक्षा की वकालत की।[57] मुनरो की 10 मार्च, 1826 की शिक्षा सम्बन्धी टिप्पणी उनके द्वारा कराए गए सर्वेक्षण से निकाले गए नतीजों पर आधारित थी। उन्होंने लंदन स्थित ईस्ट इंडिया कम्पनी के कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स को अपनी जो योजना भेजी थी, वह इतिहास में दक्षिण भारत में जन-शिक्षा के एक ब्लूप्रिंट की तरह दर्ज है। फ़ायकेनबर्ग इसकी प्रशंसा में कहते हैं कि इस तरह की योजना फिर अगली एक सदी तक प्रस्तावित नहीं की गई। यह दूरस्थ ग्रामों से लेकर केन्द्र में स्थित नगरों तक बेहतर प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों का एक नेटवर्क बनाने पर आधारित थी। इस पर एक साल में अड़तालीस हज़ार रुपए का ख़र्च आना था। मुनरो ने एक कमेटी ऑफ़ पब्लिक इंस्ट्रक्शन (सीपीआई) गठित की जो मद्रास स्कूल बुक सोसाइटी के साथ मिल कर उनकी योजना पर विस्तार से काम कर रही थी। एडम, मुनरो, होजसन और विल्किन्सन को आंग्लवादियों की इस दावेदारी पर भी सन्देह था कि अँग्रेज़ी शिक्षा की माँग सारे देश में हो रही है। उनका कहना था कि केवल बड़े शहरों के अभिजन ही अँग्रेज़ी का राग अलाप रहे हैं। बाक़ी सारा देश अभी भी भारतीय भाषाओं में शिक्षा प्राप्त करना चाहता है।

आंग्लवादी भारतीय भाषाओं की परस्पर भिन्नता पर ज़ोर देकर साबित करना चाहते थे कि कई अलग-अलग भाषाओं की मौजूदगी राज्य करने और ज्ञानोत्पाद की प्रक्रिया में अराजकता पैदा कर देती है। देशी भाषाओं की पैरोकारी कर रहे वर्ना कुलरिस्ट्स ने इसके जवाब में तर्क दिया कि भाषाई बहुलता को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जा रहा है।

आंग्लवादी भारतीय भाषाओं की परस्पर भिन्नता पर ज़ोर दे कर साबित करना चाहते थे कि कई अलग-अलग भाषाओं की मौजूदगी राज्य करने और ज्ञानोत्पाद की प्रक्रिया में अराजकता पैदा कर देती है। देशी भाषाओं की पैरोकारी कर रहे वर्नाकुलरिस्ट्स ने इसके जवाब में तर्क दिया कि भाषाई बहुलता को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जा रहा है। बैप्टिस्ट मिशन के प्रकाशन *फ़्रेंड्स ऑफ़ इंडिया* ने 1835 में 'लॉर्ड्स प्रेयर' को हिन्दी, बंगाली, संस्कृत और मराठी में छाप कर एक विश्लेषणात्मक तुलना प्रकाशित की जो

56. लैंसलोट विल्किन्सन (1805-1841) बंबई सिविल सेवा के अफ़सर थे। भोपाल में तैनातगी के दौरान उन्होंने संस्कृत-पाण्डित्य के तत्कालीन केन्द्र उज्जैन के आसपास सक्रिय पण्डितों को यह समझाने में सफलता प्राप्त की कि उन्हें न्यूटन और कॉपरनिकस के सिद्धान्तों का अपने पारम्परिक विज्ञान और गणित के साथ तालमेल बैठाना चाहिए। इन पण्डितों में ओंकार भट्ट का नाम प्रमुख है जिन्होंने खगोलशास्त्र की सैद्धान्तिक, पुराणिक और कॉपरनिकसीय प्रणालियों का हिन्दी में तुलनात्मक अध्ययन प्रकाशित किया था। विल्किन्सन ने बापूदेव शास्त्री के साथ मिल कर *सूर्य सिद्धान्त* और *सिद्धान्त शिरोमणि* के अँग्रेज़ी अनुवाद भी किए थे। भोपाल में ही विल्किन्सन ने केवल 36 वर्ष की अल्पायु में ही आख़िरी साँस ली।

57. ब्रायन होजसन के बारे में जानने के लिए देखें, पाद टिप्पणी संख्या 98।

बताती थी कि इन भाषाओं के कितने शब्द एक-दूसरे से कितने मिलते-जुलते हैं, कुछ तो एकदम समान हैं और कुछ में इतना कम फ़र्क़ है कि उन्हें दूसरे भाषा-भाषी द्वारा समझना कठिन नहीं है।

इस आरोप के जवाब में कि देशी भाषाओं में युरोपीय भाषाओं से अनुवाद करने की क्षमता का अभाव है, वर्नाकुलरिस्ट्स ने कहा कि पहले तो अँग्रेज़ी से बहुत ज़्यादा अनुवाद की आवश्यकता ही नहीं है। इसके बाद उन्होंने कुछ पुस्तकों का अनुवाद करके दिखाया ताकि साबित किया जा सके कि देशी भाषाओं में ज़रूरत पड़ने पर सफल अनुवाद किए जा सकते हैं। कुल मिला कर तथ्यात्मक रूप से इन लोगों की दलीलें आसानी से ख़ारिज नहीं की जा सकती थीं। वर्नाकुलरिस्ट्स-उद्यम की प्रशंसा करने वाले विंडहॉज़ेन ने उसके लक्ष्यों का सूत्रीकरण इस प्रकार किया है : भारत में अपराध बहुत होते हैं और उसका मुख्य कारण अज्ञान है। इसलिए अगर देशी भाषाओं में जन-शिक्षा दी जाएगी तो अपराधों में कटौती होगी। दूसरे, यह जन-शिक्षा भारतवासियों को उनके प्रमाद से निकाल कर अँग्रेज़ों द्वारा प्रवर्तित शासन के उसूलों के प्रति सचेत करेगी। तीसरे, यह प्रक्रिया अँग्रेज़ों को भी कुछ भारतीय भाषाएँ सीखने की प्रेरणा देगी जिसके परिणामस्वरूप उपनिवेशवादी भारतवासियों के बिरादर के तौर पर सामने आएँगे, न कि मालिक के तौर पर।[58]

प्रश्न यह है कि देशी भाषाओं में जन-शिक्षा की स्पष्ट रूप से वकालत करने वाली इस मुहिम का अर्थ-निरूपण कैसे किया जाना चाहिए? इन विवरणों से एक बात तो साफ़ निकल कर आती है कि ये लोग केवल अँग्रेज़ी-शिक्षा पर सरकारी पैसा ख़र्च करने के आग्रह के विरोध में थे, लेकिन साथ में वे विकेन्द्रीकृत और आर्थिक रूप से समाज-आधारित पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली की निरन्तरता के पक्षधर भी नहीं थे। इनके सुझाव कम्पनी सरकार से बार-बार अपील करते नज़र आते हैं कि उसे देशी भाषाओं में शिक्षा देने वाली भारतीय शिक्षा-प्रणाली को केन्द्रीय प्राधिकार में लाना चाहिए और उसके आर्थिक पोषण को अपने हाथ में ले कर सरकारी ख़ज़ाने से वेतन पाने वाले अध्यापकों का वर्ग तैयार करना चाहिए (ये नए अध्यापक पारम्परिक अध्यापकों से किन अर्थों में अलग थे, इसकी ज़िक्र आगे किया गया है)। किसी भी दृष्टि से देखा जाए, वर्नाकुलरिस्ट्स देशी भाषाओं में पश्चिमी विद्या का शिक्षण देने के हामी थे, न कि भारतीय विद्या का। इस तरह वे दो नए परिवर्तनों की वकालत कर रहे थे : पहला, पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली को आधुनिक केन्द्रीकृत प्रणाली में बदल देना चाहिए, और देशी भाषाओं में दी जा रही शिक्षा से भारतीय विद्या का घटक निकाल कर उसमें पश्चिमी विद्या का घटक जोड़ देना चाहिए। अगर एक रूपक के तहत बेकन और देकार्त के दर्शन को नव्य न्याय और मीमांसा के मुक़ाबले रख कर देखा जाए तो आंग्लवादियों और वर्नाकुलरिस्ट्स में अन्तर केवल इतना था कि आंग्लवादी फ़्रांसिस बेकन के सिद्धान्तों की शिक्षा अँग्रेज़ी में दे कर छनन के ज़रिए साधारण लोगों तक उसे पहुँचाने के हामी थे, जबकि वर्नाकुलरिस्ट्स थोड़े-बहुत आपसी मतभेदों के साथ उसकी शिक्षा सीधे-सीधे भारतीय भाषाओं में ही देना चाहते थे। नव्य न्याय और मीमांसा जैसे भारतीय दर्शनों की शिक्षा देने की गुंजाइश न तो आंग्लवादियों

इन विवरणों से एक बात तो साफ़ निकल कर आती है कि ये लोग केवल अँग्रेज़ी-शिक्षा पर सरकारी पैसा ख़र्च करने के आग्रह के विरोध में थे, लेकिन साथ में वे विकेन्द्रीकृत और आर्थिक रूप से समाज-आधारित पारम्परिक शिक्षा-प्रणाली की निरन्तरता के पक्षधर भी नहीं थे।

58. देखें, जॉन डी. विंडहॉज़ेन (1964), वही : 254-270।

के परिप्रेक्ष्य में थी, न ही वर्नाकुलरिस्ट्स के परिप्रेक्ष्य में।

औपनिवेशिक शिक्षा–प्रणाली :

उपनिवेशवाद के पहले से चली आ रही शिक्षा-प्रणाली के व्यापक प्रसार और विकेन्द्रीकृत संरचना का ब्रिटिश अधिकारियों और मिशनरियों द्वारा दिया गया जो संक्षिप्त ख़ाका ऊपर पेश किया गया है, उससे एक बात तो कमोबेश साफ़ हो ही जाती है कि इसका किरदार जन-शिक्षा का था, न कि अभिजन-शिक्षा का। शताब्दियों से इस प्रणाली को आर्थिक पोषण देने वाले स्थानीय हाथ उपनिवेशवादी शोषण के कारण कमज़ोर हो गए थे जिसके कारण यह दरकने लगी थी।

लेकिन हालात ऐसे भी नहीं थे कि यह प्रणाली खण्डहर में बदल गई हो और उसकी जगह एक समूची नई प्रणाली स्थापित करना ज़रूरी हो गया हो। अगर इस प्रणाली में कुछ कमियाँ थीं भी तो क्या उन्हें दूर करने का प्रयास किए बिना इसके समूल नाश का फ़ैसला लेना किस हद तक उचित था? दिलचस्प बात यह है कि हमारे लिए यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है, पर उपनिवेशिवादियों ने इसपर एक पल गँवाना भी व्यर्थ समझा। कारण?

उपनिवेशवादियों की निगाह में भारतीय चरित्र में जो भी ख़ामियाँ थीं, उनमें सुधार किया ही नहीं जा सकता था, क्योंकि वे या तो प्रजातिमूलक थीं या फिर भारत की गरम आबोहवा के कारण पैदा हुई विकृतियाँ थीं। इसलिए उपनिवेशवादियों की निगाह में ज़रूरी था कि ऐसी लाइलाज भारतवासियों की पारम्परिक संस्थाओं का अन्त कर दिया जाना चाहिए, और उनकी जगह सर्वथा नई संस्थाएँ क़ायम की जानी चाहिए।

उपनिवेशवादियों की इस समझ की रोशनी में यह देख कर ताज्जुब नहीं होता कि एक तरफ़ तो वे भारतीय समाज की कामकाजी ज़रूरतें पूरी करने वाली शिक्षा देने और साथ में उच्च-स्तरीय ज्ञानोत्पादन में भी सक्षम इस प्रणाली को इतिहास के कूड़ेदान में फेंक देना चाहते थे, और दूसरी तरफ़ उनकी ओर से शिक्षा का जो नया बन्दोबस्त प्रस्तावित किया जा रहा था वह अपने चरित्र में बेहद केन्द्रीकृत, अभिजनोन्मुखी और शिक्षा-व्यवस्था को सामाजिक पहलक़दमी से काट कर राज्य पर निर्भर और मातहत कर देने वाला था। परमेश आचार्य ने शिक्षा-प्रणाली और समाज के गहन रिश्तों के बारे में बताते हुए दिखाया है कि उन्नीसवीं सदी के आख़िरी वर्षों में बंगाल के विभागीय प्राथमिक स्कूलों में हुई असाधारण बढ़ोतरी का रहस्य क्या था, और उनका क्या परिणाम निकला :

> धार्मिक वर्जनाओं, सामाजिक पूर्वग्रहों और ग्रामीण समुदायों की शिक्षा के प्रति उच्च-वर्गों के विद्वेषपूर्ण रवैए के कारण देशी भाषाओं की शिक्षा-प्रणाली में भागीदारी के रास्ते में निचले वर्गों को कई तरह की बाधाओं का सामना करना पड़ता था। लेकिन, इसके बावजूद यह भी एक सच्चाई थी कि इस प्रणाली ने समाज में अपने क़दम गहराई से जमा लिए थे।

धार्मिक वर्जनाओं, सामाजिक पूर्वग्रहों और ग्रामीण समुदायों की शिक्षा के प्रति उच्च-वर्गों के विद्वेषपूर्ण रवैए के कारण देशी भाषाओं की शिक्षा-प्रणाली में भागीदारी के रास्ते में निचले वर्गों को कई तरह की बाधाओं का सामना करना पड़ता था। लेकिन, इसके बावजूद यह भी एक सच्चाई थी कि इस प्रणाली ने समाज में अपने क़दम गहराई से जमा लिए थे।

सदियों से इस प्रणाली के साथ रहने के कारण जनता का इसके साथ अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। इसके अतिरिक्त पारम्परिक व्यवस्था में एक तरह की ऊर्ध्वगामिता भी दिखाई देती थी। इसी कारण से एडम ने अवलोकन किया था : 'देशी स्कूलों में पढ़ने वाली (निचली) जातियाँ संख्या में इतनी तो थीं

ही कि उनसे ऐसे अन्य और निर्भर कारणों की मौजूदगी साबित हो जाती थी जो देशज समाज के कमज़ोर वर्ग को अपने हालात सुधारने के लिए प्रेरित करने के साथ-साथ साक्षरता से होने वाली उन उपलब्धियों से लाभान्वित करते थे जिनसे उन्हें अभी तक वंचित रखा गया है।

उल्लेखनीय है कि देशी शिक्षा-प्रणाली स्वाभाविक मृत्यु नहीं मरी। दरअसल, उसके प्राण तो शिक्षा की एक सम्पूर्ण प्रणाली क़ायम करके ब्रिटिश शासकों द्वारा ले लिए गए। उन्होंने पाठशाला-प्रणाली से पूरी तरह भिन्न प्राथमिक स्कूल-प्रणाली की शुरुआत की जो ब्रिटिश मॉडल की उच्च-शिक्षा तक जाती थी। ... इस कथित 'सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली' ने अन्ततः देशी-प्रणाली को अपने शिकंजे में ले कर शक्तिहीन कर दिया। यह पहले ही बताया जा चुका है कि 1881-1882 में विभागीय संस्थानों में शामिल किए गए 50,000 निचले स्तर के स्कूल दरअसल मूलतः देशी ग्रामीण स्कूल ही थे। ... इस तथ्य से यह संकेत भी मिलता है कि प्राथमिक शिक्षा की ब्रिटिश प्रणाली की शुरुआत के बाद भी देशी पाठशाला-प्रणाली पूरे बंगाल में ख़ासी फैली हुई थी। देशी स्कूलों के विभागीय स्कूलों में परिवर्तित होने की प्रक्रिया ने उन्हें उनकी अन्तर्निहित स्वतःस्फूर्तता और गतिशीलता से वंचित कर दिया। बाह्य एजेंसी का नियंत्रण जैसे-जैसे मज़बूत हुआ, अध्यापकों की नेतृत्वकारी भूमिका और ग्रामीण स्कूलों को चलाने में गाँव वालों द्वारा निभाई जाने वाली भूमिका सीमित होती चली गई।[59]

उल्लेखनीय है कि देशी शिक्षा-प्रणाली स्वाभाविक मृत्यु नहीं मरी। दरअसल, उसके प्राण तो शिक्षा की एक सम्पूर्ण प्रणाली क़ायम करके ब्रिटिश शासकों द्वारा ले लिए गए। उन्होंने पाठशाला-प्रणाली से पूरी तरह भिन्न प्राथमिक स्कूल-प्रणाली की शुरुआत की जो ब्रिटिश मॉडल की उच्च-शिक्षा तक जाती थी।

कृष्ण कुमार ने अपनी पूर्वोद्धृत रचना में बेहतरीन ढंग से उपनिवेशवादियों द्वारा स्थापित की गई शिक्षा-प्रणाली का वर्णन करते हुए दिखाया है कि यह पारम्परिक प्रणाली से कितने मूलभूत अर्थों में भिन्न थी। इस प्रणाली में न तो शिक्षक के सोच का कोई महत्त्व था, न ही छात्र की प्रगति के आकलन की उसकी क्षमता और दायित्व का। सब कुछ पूर्व-निर्धारित पाठ्यक्रमों, पाठ्यपुस्तकों, और परीक्षा के ढाँचे पर निर्भर था जिनकी रचना में शिक्षक की कोई भूमिका नहीं थी। शिक्षकों के 'बौद्धिक सन्दर्भों से रहित' प्रशिक्षण के लिए चलने वाले नॉर्मल स्कूलों को उपनिवेशवादियों ने 'सामाजिक उथल-पुथल के आग्रहों को नरम करने' के लिए भी इस्तेमाल किया। शिक्षक को इस नई प्रणाली ने एक ऐसे वेतनभोगी कर्मचारी में बदल दिया जिसे योजनापूर्वक बहुत कम वेतन दिया जाना था ताकि समाज के सबसे बेचारे और निष्फल लोग ही शिक्षण-कार्य के लिए आगे आएँ। प्राथमिक शिक्षक को अँग्रेज़ हुक्मरान केवल पाँच से पन्द्रह रुपए मासिक देते थे, जबकि तब के शिक्षा निदेशक को दो हज़ार रुपए महीने और शिक्षा निरीक्षक को सौ से पाँच सौ रुपए महीने मिलते थे। इनके मुक़ाबले शिक्षक एक दब्बू मातहत की स्थिति में रहने के लिए मजबूर था। उन्नीसवीं सदी ख़त्म होने तक औपनिवेशिक शिक्षा में तक़रीबन यही स्थिति रही। इसका परिणाम क्या निकला? कृष्ण कुमार के मुताबिक़ :

चूँकि औपनिवेशिक प्रशासन शिक्षक पर इस बात का भरोसा ही नहीं कर सकता था कि वह अपने छात्रों की निष्पक्ष परीक्षा ले सकता है, इसलिए उसने परीक्षा की एक ऐसी केन्द्रीकृत प्रणाली विकसित की जिसे गोपनीयता और नौकरशाही कर्मकाण्ड के आभामण्डल के तहत काम करना था। छात्रों की विफलता की असीमित

59. देखें, परमेश आचार्य (1978), वही।

संख्या को वैध ठहराने की अपनी क्षमता के चलते इसने सामाजिक नियंत्रण की एक संस्था की भूमिका निभाई। परीक्षा प्रणाली ने विफलता की सारी ज़िम्मेदारी प्रणाली अथवा संस्था से हटा कर अकेले छात्र पर डाल दी। विफलता के भय ने शिक्षकों और छात्रों को परीक्षा की विशिष्ट माँगों पर अपना ध्यान केन्द्रित करने पर मजबूर कर दिया जो निरपवाद रूप से निर्धारित पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु से जुड़ी हुई थीं। शिक्षक का काम महज़ छात्र को ऐसे उत्तरों के लिए तैयार कर देने का हो गया जिन्हें वह अपनी परीक्षा-पुस्तिका में उतार दे और यह करने का तार्किक तरीक़ा यही हो सकता था कि शिक्षण को पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु तक ही सीमित कर दिया जाए।[60]

उपनिवेशवादी शिक्षा-प्रणाली, जो न केवल स्वयं को आधुनिक कहती थी और जिसे आज तक आधुनिक माना भी जाता है, के केन्द्र में पाठ्यपुस्तक नामक परिघटना थी। इस परिघटना की तत्कालीन प्रबलता (जो आज भी क़ायम है) ने व्यक्ति और समाज के जीवन में ज्ञान की अवधारणा को एक ऐसा रूप दिया जिससे भारतीय समाज पूर्व-परिचित नहीं था। कृष्ण कुमार ने भारत की 'पाठ्यपुस्तक संस्कृति' की पहले तो बारीक़ी से जाँच-पड़ताल की और फिर पता लगाया कि शिक्षा पर छाए हुए इस संस्कृति के वर्चस्व ज्ञान के अर्जन को क्या दिशा दी। इस वर्चस्व के कारण कोर्स की किताब के अलावा किसी और किताब को पढ़ने का मतलब था निरपवाद निन्दा और कड़ी पिटाई। यानी कोर्स के बाहर किसी भी तरह का अध्ययन करना जोखिम भरा काम बन गया था। पाठ्यपुस्तकीय ज्ञान ही जीवन के लिए उपयोगी रह गया, क्योंकि राज्य उसी की परीक्षा के रूप में डिग्री रूपी संस्तुति देता था। एक चमकदार प्रेक्षण में कृष्ण कुमार ने अँग्रेज़ों के ज़माने में छात्र के लिए 'उपयोगी' या 'उपयुक्त' रह गए ज्ञान के दायरे की जानकारी इस प्रकार दी है :

इस प्रकार ज्ञान के अन्य सारे रूप इस 'पाठ्यपुस्तक संस्कृति' द्वारा अवैध बना दिए गए थे। अवैध बना दिया गया यह क्षेत्र काफ़ी बड़ा था : इसके दायरे में व्यवहारत: उपनिवेशित समाज की समूची संस्कृति आ जाती थी, यानी इसकी परम्पराएँ, धर्म, लोककथाएँ और इसके कौशल, कलाएँ, और विज्ञान सभी कुछ।

ज्ञान के इस समूचे वर्णक्रम से स्कूलों-कॉलेजों को कुछ भी लेना-देना नहीं था– न तो इसके लिखित पाठों से (जो कि बहुतेरे थे) और न ही इससे कहीं ज़्यादा मात्रा में मौजूद मौखिक पाठों से। ऐसे पाठ निर्धारित पाठ्यचर्या के दायरे में नहीं आते थे और स्कूली ज्ञान के अंग के बतौर उनकी गिनती नहीं की जाती थी। उनसे परिचित होना और यहाँ तक उनपर अधिकार रखना शिक्षा के रूप में लिया ही नहीं जाता था। छात्र के लिए वे भावनात्मक रूप से कितने भी अर्थपूर्ण न रहे हों, शिक्षक न तो उनका उल्लेख कर सकते थे और न ही कक्षा के भीतर उनका कोई उपयोग कर सकते थे।[61]

अभय कुमार दुबे वरिष्ठ पत्रकार एवं समाज विश्लेषक हैं। विगत दो दशक से विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी एस डी एस) दिल्ली में प्रोफ़ेसर हैं, भारतीय भाषा कार्यक्रम के निदेशक हैं एवं हिन्दी शोध पत्रिका *प्रतिमान* के सम्पादक हैं।

सम्पर्क : abhaydubey@csds.in

60. विस्तार से किए गए इस विश्लेषणात्मक विवरण के लिए देखें, कृष्ण कुमार (2006), 'औपनिवेशिक शिक्षा के तहत स्कूल शिक्षक' और 'एक कमज़ोर पेशे के लिए प्रशिक्षण', वही : 89-92।

61. पाठ्यपुस्तकीय संस्कृति के लिए देखें, कृष्ण कुमार (1988), *'ओरिजिंस ऑफ़ इंडियाज़ ''टेक्स्टबुक कल्चर'' : कम्परेटिव एजुकेशन रिव्यू*, खण्ड 32, अंक 4 : 452-464. इसके अलावा देखें, कृष्ण कुमार (2006), वही : 73।